## द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से, मार्गदर्शन विषय सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के चयन किये गये वचनामृत

जिस चीज़ को पकड़नी है उसको पहले पूरी समझ लेनी (यथार्थ निर्णय कर लेना) चाहिए। ४६४.

***

ध्रुवतत्त्व को समझने के लिए पर्याय के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है, इसलिए पर्याय से सभी बातें कहने में (समझाने में) आती हैं। ४६६.

***

पहले तो असली (निरपेक्ष) बात नक्की कर लो, फिर अपेक्षित बातों का खतियान कर लो। एक ओर, परद्रव्य का चिंतन राग का कारण बतावें; दूसरी और, केवली के द्रव्य-गुण-पर्याय का चिंतन मोहक्षय का कारण बतावें; - सो परद्रव्य का चिंतन राग का कारण है, यह तो 'सिद्धांत' है; और मोहक्षय का कारण तो 'निमित्त की अपेक्षा' से बताया है। ऐसे सभी जगह 'निरपेक्ष' बात निश्चितकर, फिर 'अपेक्षित' बात को समझ लेना है। ४७३.

***

असल में सुनने आदि का रस कम हो जाना चाहिए, - वह कम कब होगा ? कि - जब अंदर का रस बढ़ता जावे तभी उधर में रस कम होता जाता है। (इसलिए) शुरू से ही उधर में (सुनने आदि में) ज़ोर नहीं आना चाहिए। (मुमुक्षु जीव को शुभभाव में रस आता है, वह भी विभावरस ही है। सिद्धांत तो यह है कि कहीं भी (शुभाशुभभाव में) विभावरस तीव्र नहीं होना चाहिए। अतः ऐसी समझपूर्वक अत्यंत सावधानी रहने से, उक्त प्रतिबंधक रस तीव्र न होनेसे, अंतरस्वभावरस उत्पन्न होनेका अवकाश बनता है; और वैसे अवकाश से अंतरस्वभाव रस आविर्भूत होनेकी प्रक्रिया संभवित है।) ४८९.

***

प्रश्न : यह सभी बात सत्य है, लेकिन विकल्प टूटता नहीं है ?

उत्तर : विकल्पसे क्यों ड़रते हो ? इसको भी इसीकी सत्ता में रहने दो; और तुम तुमारी त्रिकाली सत्ता में रहो। विकल्प को तोड़ने-मोड़ने जाओगे तो तुमारी ध्रुवसत्ता का (श्रद्धा में) नाश होगा; और फिर भी ये विकल्प तो टूटेंगे नहीं। ४९१.

***

# स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६ः अंक-२८३, वर्ष-२४, जुलाई-२०२१

**आषाढ़ कृष्ण ९, मंगलवार, दि. १२-७-१९६६, योगसार पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-८५ प्रवचन-३२**

८५, **आत्मानुभव में सब गुण हैं।**

**जहिं अप्पा तहिं सयल-गुण केवलि एम भणंति।**
**तिहि कारणएँ जोइ फुडु अप्पा विमलु मुणंति॥**
**॥८५॥**

आहा...हा...! आचार्य को केवली की साक्षी देनी पड़ी, बापू! जो सर्वज्ञ है न! जो केवलज्ञानी प्रभु है न! उन्हें एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल – तीन लोक की पर्याय में परिपूर्णता जानने पर उसमें सब ज्ञात हो गया। पानी में देखने पर, पानी में नजर पड़ने पर, पानी में, ऊपर जो तारे होते हैं, वे पानी में देखने पर दिख जाते हैं। ऐसे ही भगवान आत्मा की निर्मल पर्याय देखने से तीन काल – तीन लोक उसमें ज्ञात हो जाते हैं। पानी स्वच्छ होता है न! स्वच्छ पानी... ऐसी नजर पड़े (पानी में) वहाँ (दिखता है)। इसे ऐसे नजर (तारों की तरफ) नहीं करनी पड़ती। वहाँ नक्षत्र, तारे सब पानी की स्वच्छता में ज्ञात हो जाते हैं। ऐसे भगवान आत्मा अपने अवलंबन से प्रगट हुई, ज्ञानगुण की परिपूर्ण केवलज्ञान पर्याय, उसमें देखने से तीन काल-तीन लोक उसमें आ जाता है, ज्ञात हो जाता है।

**मुमुक्षु :** पानी में तारे साथ हैं न?

**उत्तर :** तारे कहाँ थे? तारे तो वहाँ हैं। तारे सम्बन्धी जो जल की स्वच्छता है, वह वहाँ है। तारे वहाँ हैं? ऐसे ही आत्मा की स्वच्छता की पर्याय में क्या लोकालोक है? लोकालोक सम्बन्धी का अपना ज्ञान वहाँ है, वह ज्ञान वहाँ ज्ञात हो जाता है, वह ज्ञान है। आहा...हा...! वहाँ क्या नीम यहाँ आ जाता है? हमारे सेठ ठीक हैं, धीरे से लड़की डालते हैं, पानी में तारे साथ हैं न? पानी में है या नहीं? तारे वहाँ होंगे, तारे तो वहाँ हैं। पानी की स्वच्छता का यह सब रूप है, पानी की स्वच्छता का यह सब पूरा रूप है। ऐसे भगवान आत्मा कैवल्यदशा की पर्याय जहाँ प्रगट हुई, उसे देखने से लोकालोक सम्बन्धी का ज्ञान, वह अपना ज्ञान वहाँ है, उस ज्ञान को देखता है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा आत्मा, बापू! जिसकी एक समय की पर्याय, लोकालोक के समक्ष देखे बिना यहाँ देखने से ज्ञात हो जाए, ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायों का तो एक गुण, ऐसे-ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड एक द्रव्य, उसकी क्या बात करना! जिसे धर्म करना है, वह करनेवाला कैसा? – उसकी इसे खबर नहीं होती। करनेवाला आत्मा, परन्तु वह कैसा और कहाँ, किस प्रकार? यह अपने को कुछ पता नहीं है। अब पता नहीं है तो करेगा क्या वह? समझ में आया? इसका गुजराती है न? इसमें डाला है न हमने –

**जहाँ आत्मा तहाँ सकल गुण, केवली बोले ऐम।**
**प्रगट अनुभव आपनो निर्मल करे सो प्रेम॥**

चैतन्यप्रभु! चेतन सम्पदा रे तेरे धाम में। हे चेतनप्रभु! चेतन सम्पदा रे तेरे धाम में। यह लोकालोक की सम्पदा यहाँ है। वहाँ कहाँ लोकालोक उसके घर रहा। वह कहीं ज्ञान की पर्याय में आया है? और ज्ञान की पर्याय में लोकालोक यहाँ आया है। वह तो ज्ञान की पर्याय का स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य में स्वयं देखते हुए वह ज्ञात हो जाता है। उसे जानता है, कहना व्यवहार है। आत्मज्ञानमय सर्वज्ञता है। आहा...हा...! अरे! ऐसा आत्मा! उसे महिमा से दृष्टि में नहीं लिया और इसे महिमा राग की-पुण्य की, निमित्त की और इस धूल की, व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प की महिमा (रही), उसे यह एक क्षण में उपाधि का मेल, उसकी महिमा (रही)। भगवान इतना महान महिमावन्त, इसे रुचा नहीं, अभी नहीं रुचता उसका परिणमन कब होगा? कहते हैं न? एकान्त हो जाता है। अरे... भगवान! सुन न भाई! जाने दे न! अन्दर में जाने दे न! इसका नाम एकान्त है। पण्डितजी! है न? आहा...हा...!

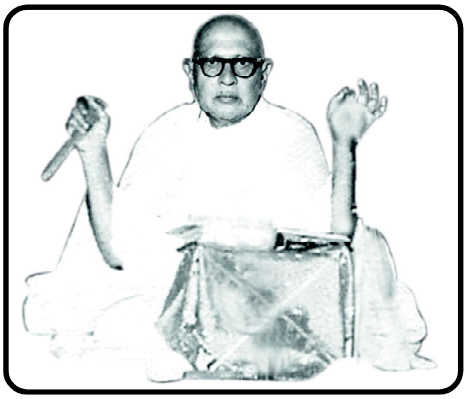

भगवान तेरे घर की बात है भाई! उसके अपने घर की बात है बापू! यह किसी की बात नहीं है। समझ में आया? इसे पकड़ना है और इसे जानना है और इसे ग्रहण करना है। कोई करा दे – ऐसा नहीं है। तीन लोक के नाथ तीर्थङ्कर भी क्या करेंगे? अनन्त तीर्थङ्कर हुए, मूसलधार (उपदेश) चलता था, धर्म धुरन्धर धोरी.... महाविदेहक्षेत्र में अनेक तीर्थङ्कर विचरण करते हैं तो क्या वहाँ सब समकिती हैं? वहाँ भी मिथ्यादृष्टि के ढेर पड़े हैं। यहाँ तो अभी सातवें नरक जानेवाले भी नहीं हैं। वहाँ तो अभी सातवें नरक जानेवाले हैं। जैसे केवल (ज्ञान) प्राप्त करके (मोक्ष) जानेवाले हैं, (उसी प्रकार) सातवीं नरक में जानेवाले भी हैं। भाई! यह तो उनकी स्वतन्त्रता बताते हैं। यहाँ सातवें नरक में जानेवाले नहीं हैं, वैसे ही चार ज्ञान या केवलज्ञान होवे – ऐसी शक्ति भी नहीं है।

**जहाँ आत्मा है, वह उसके सर्व गुण हैं।** यहाँ क्या कहते हैं? भाई! जितने गुण हैं, वे तेरे आत्मा में ही हैं; कहीं बाहर ढूँढ़ने जाना पड़े ऐसा नहीं है। जितने-जितने प्रशंसा करने योग्य अच्छाई भलाई, पवित्रता जितना कुछ कहा जाता है, सब गुण भगवान तेरे आत्मा में हैं, भाई! वे नहीं संयोग में, नहीं कर्म में, नहीं दया-दान के विकल्प में, नहीं एक समय की पर्याय में, सब गुण आ जाते हैं। त्रिकाल, त्रिकाल...।

**केवली भगवान ऐसा कहते हैं।** लो, योगीन्द्रदेव को ऐसा कहना पड़ा। भगवान परमात्मा, जिन्हें अनन्त चक्षु हैं न, भाई! वे तो परमात्मा केवलज्ञानी हैं, जिन्हें अनन्त चक्षु हैं। वे अनन्त चक्षु असंख्य प्रदेशों में खिल गये हैं। वे भगवान ऐसा कहते हैं – जहाँ-जहाँ आत्मा, वहाँ-वहाँ अनन्त पवित्र गुण; जहाँ-जहाँ अनन्त पवित्र गुण, वह आत्मा। कहो समझ में आया? योगीन्द्रदेव को भगवान को रखना पड़ा। ऐसे अनन्त गुण, भाई! तू ऐसा कहता है कि यह आत्मा है या नहीं? तो फिर जितने अच्छे... अच्छे... अच्छे... गुण कहे जाते हैं, जितनी स्वच्छता निर्मलता, पवित्रता की उग्रता जो कुछ कही जाती है, वह सब तेरे आत्मा में बसे हैं। प्रभु! श्रद्धा-ज्ञान, शान्ति, आनन्द, स्वच्छता, परमेश्वरता, कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण, भावअभाव, अभावभाव, भावभाव, अभावअभाव – ऐसे अनन्त गुण। जहाँ आत्मा वहाँ अनन्त गुण व्यापकरूप से ठसाठस भरे हैं।

**इस कारण योगी निश्चय से निर्मल आत्मा का अनुभव करते हैं।** लो, इस कारण से भगवान आत्मा

पूर्ण पवित्रता का पिण्ड प्रभु, उसी का अनुभव सन्त करते हैं। समझ में आया? अनुभव करते हैं, देखा? **निश्चय से निर्मल आत्मा का अनुभव करते हैं। विमलु, विमलु अप्पा मुणंति विमलुं** निर्मल का ही अनुभव करते हैं। **मुणंति** का अर्थ अनुभव करते हैं, हाँ! अकेला जानना, जानना ऐसा नहीं। जानने का अर्थ ही अनुभव करना, उसे जानना कहा जाता है। भगवान आत्मा पूर्ण शुद्धस्वरूप, उसके सन्मुख होकर, पर से विमुख होकर अनुभव करते हैं, क्योंकि उसमें अनन्त गुण हैं। एक को अनुभव करने पर अनन्त गुण का अनुभव उसमें आ जाता है – ऐसा कहते हैं। एक भगवान आत्मा को अन्तर्दृष्टि में अनुभव करने से भगवान में रहनेवाले सभी गुण अनुभव में आ जाते हैं। आहा...हा...!

देखो, अभी यह बड़ा विवाद चलता है। अभी चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण नहीं होता... अरे...! भगवान! चारित्र के गुण का अंश न आवे तो वह द्रव्य परिणमित कहाँ से हुआ? आनन्द का अंश न आवे तो उस अनन्त आनन्द को धरनेवाला द्रव्य वह दृष्टि में -प्रतीति में आया कहाँ से? आहा...हा...! सम्यग्दर्शन कोई ऐसी चीज है कि सर्व गुण के अंश को प्रगट करके परिणमता है। समझ में आया? 'सर्व गुणांश वह समकित' है न अपने यहाँ? बड़े अक्षरों में लिखा है 'सर्व गुणांश वह समकित'। सर्व गुण में जितने अनन्त गुण भगवान आत्मा में भगवान ने देखे, उनमें सम्यग्दर्शन में समस्त गुणों का एक अंश व्यक्तरूप से, प्रगटरूप से-प्रगटरूप से अनुभव में आता है। समझ में आया? आहा...हा...! शक्तिरूप से तो है परन्तु उसमें क्या? इसलिए कहा न, अनुभवता है। अनुभव तो पर्याय में है न? द्रव्य का अनुभव नहीं होता, द्रव्य-गुण का अनुभव नहीं होता; द्रव्य-गुण का ज्ञान होता है... अनुभव पर्याय में होता है, पर्याय का होता है। पर्याय में – अवस्था में द्रव्य क्या है – ऐसा लक्ष्य करके पर्याय को अनुभवते हैं। उसे आत्मा को अनुभवते हैं ऐसा कहने में आता है।

**शुद्धात्मा का जहाँ श्रद्धान है, ज्ञान है व उसी का ध्यान है अर्थात् जहाँ शुद्धात्मा का अनुभव है, उपयोग पञ्चेन्द्रिय व मन के विषयों से हटकर एक निर्मल आत्मा ही की तरफ तन्मय है, वही यथार्थ मोक्षमार्ग है। जब आत्मा का ग्रहण हो गया, तब आत्मा के सर्व गुणों का ग्रहण हो गया।** ठीक है? **क्योंकि द्रव्य के सर्व गुण उसके भीतर ही रहते हैं।** भगवान परिपूर्ण द्रव्य की जहाँ अनुभव-दृष्टि हुई तो द्रव्य में अनन्त गुण रहते हैं तो अनन्त गुण भी उसमें आ गये। **मिश्री को ग्रहण करने से मिश्री के सर्व गुण ग्रहण में आ जाते हैं।** ठीक है? मिश्री की डली हाथ ले तो मिश्री में जितने गुण हैं, वे सब आ जाते हैं।

आम का ग्रहण करने से, दूसरा दृष्टान्त दिया है, भाई! आम... आम का ग्रहण करने से आम का स्पर्श गुण आदि का ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा को ग्रहण करने से आत्मा के समस्त गुणों का ग्रहण हो जाता है। कोई गुण बाकी नहीं रहता। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

***

**ट्रस्टके इस स्वानुभूतिप्रकाशके हिन्दी अंक (जुलाई-२०२१)का शुल्क स्व. श्री खीमजीभाई गंगर, ह. लक्ष्मीबहन गंगर, मुंबईके नामसे साभार प्राप्त हुआ है जिस कारणसे यह अंक सभी पाठकोंको भेजा जा रहा है।**

**पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रंथके वचनामृत-२४१ पर भाववाही प्रवचन, दि. १६-५-१९८३, प्रवचन क्रमांक-१०३ (विषय : मार्गदर्शन)**

**शुभरागकी मीठास जीवको मार डालती है और परसत्तावलंबी ज्ञानकी मीठास भी जीवको मार डालती है। २४१.**

(परमागमसार बोल -) २४१। **'शुभराग की मिठास जीव को मार डालती है और परसत्तावलंबी ज्ञान की मिठास भी जीव को मार डालती है।'** दो बातें की हैं। जीव के जो परिणाम हैं उसमें वह हठ से भी पर विषयों का त्याग कर सकता है। जगत में क्या बनता है? कि जगत में जो मनोहर विषय हैं, पाँच इन्द्रियों को जो सुहावने विषय हैं, उसका त्याग तो जीव हठ से भी कर सकता है, परंतु भीतर में उस प्रकार के परिणाम के वक्त जो शुभभाव होता है, इसकी मिठास रह जाती है जो उसे मार डालती है। ऐसा कहते हैं। **'शुभराग की मिठास जीव को मार डालती है...'** ऐसा कहते हैं।

जीव फँस जाता है। अपना जो शुद्धात्म स्वरूप है, वीतराग स्वरूप है इसकी वीतरागी परिणति उत्पन्न करने के लिए शुभाशुभ परिणाम का जो छेद करना चाहिए, इसके बज़ाय अशुभ छोड़कर शुभ में लीन होता है, शुभ की मिठास में अटकता है - वह उसे मार डालती है। यानि कि जीव को वीतरागता में आने नहीं देता। यह एक अपसिद्धांत है कि अशुभ छोड़कर शुभ करते-करते शुद्धता होगी- यह अपसिद्धांत है। अपसिद्धांत मतलब विरुद्ध सिद्धांत है, उल्टा सिद्धांत है। राग करते-करते वीतरागता हो जाए ऐसा कभी नहीं बनता।

श्रीमद्जी लिखते हैं कि 'रक्त से रक्त का दाग नहीं जाता'। खून से खून का दाग नहीं जाता पानी से खून का दाग निकलता है। वह भी निर्मल पानी से (दाग जाता है), ऐसा कहना है।

कहते हैं कि **'शुभराग की मिठास जीव को मार डालती है...'** प्रायः जीव धर्म के क्षेत्र में आकर अशुभ छोड़कर शुभ प्रवृत्ति में सहजरूप से ही प्रवृत्ति करते हैं। दूसरा उपाय नहीं है। अशुभ छोड़ना और शुभ में आना - इतनी साधारण प्रक्रिया तो बनती ही है। शुद्धता उत्पन्न होने के पहले भी (ऐसा तो बनता ही है)। परंतु यह शुद्धता भी उन्हीं जीवों को उत्पन्न होती है जिन्हें शुभ की मिठास नहीं रहती। जिनको इस शुभराग की मिठास रह जाती है उन्हें वीतरागता और शुद्धता की उत्पत्ति नहीं हो

सकती, ऐसा है। क्योंकि वहाँ उसने शुद्धता के बज़ाय शुभ की कीमत कर ली।

गुरुदेवश्री एक दृष्टांत देते थे कि जैसे कोई बाजरे की बालदार फसल होती है जिसका डंठल मोटा होता है। यह जो फसल होती है न! सीधा ही डंठल जमीनमें से उगता है। ऊपर में बाल पकती है। बहुत बड़ी बाजरे की बाल होती है जिसका वज़न भी होता है, ५०० ग्राम बाजरे के दाने इसमें भरे हो! दो-दो बित्ता लंबी बालें होती हैं। इसका पौधा फिर एकदम पतली सलाई जैसा नहीं होता है। उसका पतली सलाई जैसा पौधा नहीं होता है। छः फिट पर ऐसी बालदार फसल को टिकने के लिए उसका डंठल भी उतना मोटा होता है। उसे 'डंठल' कहते हैं, साँटा होता है। वैसे सबल से सबल पुण्य के परिणाम हो जिसका आगे जाकर शुद्धता के परिणामरूपी फल आता है तो भी जिसको बाजरे की मिठास चाहिए उसे डंठल की कीमत नहीं होती। गठरियाँ भर-भरकर घास निकलता है! उदार आदमी होगा-कोई श्रीमंत आदमी होगा वह कहेगा कि पिंजरापोल में भेज दो, उससे पैसा नहीं कमाना है मुझे। मेरे यहाँ फसले इतनी पकती हैं, पुण्य के कारण इतनी फसल पकती है कि जिससे कितने ही कोठार भरने के बाद भी मैं दान दे देता हूँ। खाते-पीते इतना बचता है करें क्या इसका? जब उसको भी मैं दान में दे देता हूँ तो फिर घास की गठरियाँ को इकट्ठी करके क्या करना है? भेज दो इसे! उसकी नज़र घास पर नहीं होती।

वैसे जिस शुद्धता में केवलज्ञान और सिद्धपद की फसल पकनेवाली है, ऐसे मार्ग पर चलनेवाले मोक्षमार्गी जीव को व्यवहार रत्नत्रय के कारण, उत्कृष्ट शुभराग के निमित्त से ऊँची जाति के पुण्य का बंध होता है। उस बंधन के सामने अपेक्षा रखकर देखे तो वह मोक्षमार्गी नहीं!!

जैसे कोई श्रीमंत हो फिर भी घास की गठरियाँ का संग्रह करे तो इसमें इसकी श्रीमंताई नहीं! इतनी-इतनी फसल पकने के बावजूद भी जो लोभ करके घास का संग्रह करे तो उसमें इसकी श्रीमंताई नहीं रहती। वैसे यहाँ कहते हैं कि वीतरागता की जो कीमत है इसके आगे राग की क्या कीमत है? उत्कृष्ट से उत्कृष्ट व्यवहार के राग की भी कोई कीमत नहीं है। मोक्षमार्गी जीव की ऐसी परिस्थिति होती है। यह मोक्षमार्गी जीव की वास्तविक स्थिति है। जिसको यहाँ प्रदर्शित किया है। **'शुभराग की मिठास जीव को मार डालती है...'** उसमें वह अटक जाता है, आगे नहीं बढ़ता, वीतरागता उत्पन्न नहीं कर सकता है।

इससे बढ़कर कहते हैं कि, **'परसत्तावलंबी ज्ञान की मिठास जीव को मार डालती है।'** परसत्तावलंबी ज्ञान (मतलब) दूसरे पदार्थ को लक्ष्य में रखकर, दूसरे पदार्थ के अवलंबन से उत्पन्न हुआ ज्ञान, पढ़-पढ़कर प्राप्त हुआ ज्ञान, सुन-सुनकर प्राप्त किया हुआ ज्ञान। या आत्मा के अवलंबनपूर्वक जो ज्ञान उत्पन्न होना चाहिए, ज्ञान भण्डार के अवलंबन से ज्ञानमें से जो ज्ञान आना चाहिए, इसके बजाय अन्य द्रव्य और अन्य भाव में आकर्षित होकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है (उसे परसत्तावलंबी ज्ञान कहते हैं) और वह ज्ञान यदि जीव को अच्छा लगे, मीठा लगे कि, वाह! मुझे बहुत ज्ञान है! तो यह भी जीव को मार डालता है। यह विद्वानों के लिए चेतावनी है।

धर्म के क्षेत्र में दो प्रकार की प्रक्रियावाले जीव हैं। ज्ञान की क्रियावाले और शुभराग की क्रियावाले - (ऐसे) दो प्रकार की परिणाम-क्रियावाले जीवों की स्थिति देखकर यह बात की है। जो शुभराग की क्रिया कर रहे जीव हैं और उस शुभराग की मिठास ले रहे हैं वे भी मरे हुए हैं। (वे भी) मर गए! उसके जन्म-मरण नहीं मिटेंगे और ज्ञान की क्रिया में रत, शुद्ध अंतर सत्ता के अवलंबनपूर्वक ज्ञान करने के बजाय, इसे छोड़कर बाहर में शास्त्र (पढ़कर) और शास्त्र सुनकर जो अपने ज्ञान को विकसित हुआ मानते हैं, बहुत ज्ञान प्राप्त किया ऐसा मानकर उसकी मिठास लेते हैं (वे भी मरे हुए हैं)।

काफी लोगों के पास एक बात करने के लिए अनेक शब्दों से बात की अभिव्यक्ति कर सके ऐसी भाषा-शैली होती है। साथ ही उस ज्ञान के अनुरूप बाहर में वाणी आदि का योग भी होता है। फिर इतनी मिठास आती है... इतनी मिठास आती है... वाह ! जैसे यही सर्वस्व है! (यहाँ कहते हैं) उसे अंतर्मुख होने का अवसर नहीं आता।

एक जगह बोल है। कहाँ है (इस ग्रंथ में) आगे या पीछे पता नहीं है। आ चुका होगा तो आपका ख्याल होगा। 'जिसको क्षयोपशम ज्ञान का या इन्द्रिय ज्ञान का रस चढ़ा है, उसको अतीन्द्रिय ज्ञान का रस नहीं चढ़ेगा।' ऐसी एक बात इस 'परमागमसार' में आती है। इसलिए मन और बुद्धि से वह भले ही चारों अनुयोग के विषय का अध्ययन करके ज्ञान के उघाड़ के रस में चढ़ जाये, उसे इन्द्रियज्ञान का रस है ऐसा कहा जाता है। इसे परसत्तावलंबी ज्ञान की मिठास कहो चाहे उसे इन्द्रियज्ञान का रस है (ऐसा कहो, दोनों एक ही हैं)। वास्तव में उसे अतीन्द्रिय ज्ञानधारी ऐसा आत्मा नहीं रुचा है। जीव को हकीकत में अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूपी आत्मा की रुचि नहीं है और अतीन्द्रिय ज्ञान की मिठास लेने का उसे मन नहीं है। वह विरुद्धपक्ष में खड़ा है, ऐसा ही कहना है लीजिए! विरोध पक्ष में वह खड़ा है।

इन्द्रियज्ञान की मिठास लेनेवाला जीव विरोधपक्ष में खड़ा है। इन्द्रियज्ञान की मिठास, क्षयोपशमज्ञान की मिठास आत्मा के विरोधपक्ष में है। वह सब से ज्यादा फँसने का कारण है। क्योंकि इसका विषय तो है शास्त्र! हालाँकि पण्डितों का संसार ही शास्त्र है। पण्डितों का संसार शास्त्र है। यह भी शास्त्र में ही आता है। यह बात भी शास्त्र में ही आती है।

टोडरमलजी ने शुरूआत में लिया है कि, पण्डितों का संसार जो है वह शास्त्र है। क्यों ऐसा कहा? क्योंकि जिस परसत्तावलंबी ज्ञान से संसार का परिभ्रमण चालू रहता है, ऐसे परसत्तावलंबी ज्ञान को उसने मिठास ले-लेकर बढ़ाया है, जिससे उसे पर तन्मयता और पर - सन्मुखता का अभाव नहीं होता है और स्व-सन्मुखता उत्पन्न नहीं होती है। यह परिस्थिति पैदा हो जाती है। वह जीव को मार डालती है, यानि कि भावमरण और द्रव्यमरण का वह कारण होती है। अतः विपरीत दिशा में उस विषय को कीमत देकर बिल्कुल चलने जैसा नहीं है।

अब कहिये, अपने स्वाध्याय के सात दिनमें से छः दिन करना कि नहीं करना? करने चाहिए कि नहीं करने चाहिए? यह तो दूसरे ध्वनि की अपेक्षा से है। यह Cross Argument है। ऐसा कहते हैं कि भगवान की जो दिव्यध्वनि है वह

ऐसी है कि सुननेवाले श्रोताओं को, धर्मी को भी ऐसा लगता है कि जैसे भगवान मेरे कान में अमृत की धारा कर रहे हों! अमृत की धार करते हों ऐसा लगे ! परंतु ऐसा लगने के पीछे कारण दूसरा है। भीतर में जो आनंद अमृत है न ! उसका जीव को लक्ष्य होता है। अंतरलक्ष्य में विकास करता है तब (भगवान) पर आरोप किया जाता है।

भगवान की वाणी में जो पुण्य अतिशय है (इसलिए) मिठास है, आवाज़ की मिठास जरूर है, असाधारण है अतिशय है। जगत के किसी भी स्वर में ऐसी मिठास नहीं होती। भले ही संगीत के स्वर को लोग सुस्वर कहकर इसकी मिठास लेते हो और कर्कश- दुस्वर को कटु जानते हो, तो भी भगवान की वाणी है उसकी मिठास तो कोई अलौकिक मिठास है!!

ऐसा होने के बावजूद भी जो जीव शुद्धोपयोग में लीन होते हैं, वहाँ समवसरण में लीन होते हैं इनकी बात है... ! समवसरण में लाखों जीव वारंवार स्वरूप में डूबकी लगाते हैं। तब इस मिठास को लेते हुए (स्वरूप में लीन) होते हैं या उसे छोड़कर ? वहाँ धीमी धार है, उस अमृत की धारा को भी छोड़ते हैं कि नहीं ? क्योंकि इससे भी ज्यादा अमृतमय जो भीतर में आनंद का परिणमन है, वह वास्तव में अमृत है ! उसमें लीन होते वक्त उतना समय भगवान की वाणी सुनना छोड़ देते हैं। उपयोग छूट जाता है। सुनने में उपयोग तब नहीं रहता।

अरे ! लेकिन भगवान सामने बैठे हैं, वाणी सुना रहे हैं, फिर भी तू उपयोग नहीं देता है ? यह तो अविवेक नहीं कहलाएगा ? परंतु भगवान भी वाणी में यही कह रहे हैं कि, तू अंदर में लीन हो जा ! अतः भगवान की आज्ञा का पालन ही भगवान का सच्चा विवेक है। वाणी सुनना वह तो इसकी बराबरी में अविवेक है ! विवेक नहीं परंतु वह अविवेक है। क्योंकि पर-सन्मुख रहा, स्व-सन्मुख नहीं हुआ, मतलब आज्ञा मानी नहीं - ऐसा हो गया। थोड़ा अजीब-सा लगे ऐसा है !

मुमुक्षु :- सीधा ही है।

पूज्य भाईश्री :- एकदम सीधा है। सीधा है क्या ? एकदम सीधा है। अंतर्मुख होना इसमें क्या आड़े आता है ? इसमें तो कोई रुकावट है ही नहीं। केवल अंतर्मुख होना यह तो एकांत सत्य का आराधन है, सत्य स्वरूप का आराधन है। वह एकांतरूप से वीतराग मार्ग है। इसके अलावा दूसरा कोई मार्ग है नहीं।

(यहाँ कहते हैं) **'शुभराग की मिठास जीव को मार डालती है और परसत्तावलंबी ज्ञान की मिठास भी जीव को मारी डालती है।'** हमलोग जब विशेषरूप से ज्ञान की प्रक्रिया में चल रहे हैं तो हमें इस पर विशेषरूप से विचार करना आवश्यक है। अपने यहाँ जो विषय चलता है उसमें स्वाध्याय की प्रक्रिया का विषय विशेष चलता है। जिसमें सुनना, पढ़ना, चर्चा आदि करना - ऐसे दो-तीन प्रकार से यह प्रवृत्ति चलती है, परंतु इसमें यह ध्यान खींचने जैसी बात है कि ये सारी प्रवृत्तियों का उदय चलता हो तो भी लक्ष्यमें से यह बात हटनी नहीं चाहिए कि यह परसत्तावलंबी ज्ञान है जिसकी कीमत नहीं है। इसे तुल्य देने जैसा नहीं है और न तो इसमें उघाड का विकास हो जाये तो इसकी मिठास का वेदन करने योग्य है।

मुमुक्षु :- बहुत कठिन बात है !

पूज्य भाईश्री :- कठिन में तो भाई! ऐसा है कि जब तक अभ्यास नहीं है तब तक (लगेगी)। एक अंक लिखना भी एक समय कठिन लगता था! परंतु कब तक? कि जब तक इसे लिखने का अभ्यास नहीं था। लगता था कि नहीं मुश्किल? अभी कौन कहेगा कि एक अंक लिखना मुश्किल है, (मुझे) सिखाईये? कोई नहीं कहेगा।

प्रश्न :- यह जो परसत्तावलंबी ज्ञान कहा वह कौन-सा?

समाधान :- ये जितना भी शास्त्रज्ञान है, शास्त्र के अवलंबन से जितना उघाड और विकास होता है - वह सारा परसत्तावलंबी ज्ञान है। मिथ्यादृष्टि जीव को इसकी मिठास आती है, वह उसे मार डालती है।

सम्यग्दृष्टि जीव को अंग-पूर्व का उघाड हो सकता है, गणधरदेव को तो इतना उघाड होता है कि अंतर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना कर दे! जिसमें चारों अनुयोग आ जाते हैं। बारह अंग किसको कहें!! लिखने बैठे तो लिखा न जाए। लिखने बैठे तो लिखना पूरा ही न हो जैसे। इतना क्षयोपशम! अंतर्मुहूर्त में इतना विकास होता है! इतने भेद-प्रभेद में उपयोग तेज़ी से घूम लेता है, फिर भी मोक्षमार्गी जीव को उस परसत्तावलंबी ज्ञान की मिठास नहीं आती।

इतना ही नहीं, रहस्यपूर्णचिट्ठी में तो यहाँ तक बात की है कि, कोई भी मोक्षमार्गी जीव परसत्तावलंबी ज्ञान को मोक्षमार्ग नहीं कहते। ठीक! अरे! लेकिन गणधरदेव तो शास्त्र की रचना करते हैं न? (लेकिन) उसे मोक्षमार्ग नहीं कहते। जो स्वसत्तावलंबी ज्ञान है उसे मोक्षमार्ग कहा जाता है। इस प्रकार इस विषय पर विशेष विचार कर्त्तव्य है। (समय हुआ है)।

## दि. १८-५-१९८३, वचनामृत-२४४, प्रवचन क्रमांक-१०५

### विषय-मार्गदर्शन

**हे भगवान! आपने जो चैतन्यभंडार खोल दिया है--उसके सामने कौन ऐसा होगा कि जिसको चक्रवर्तीका वैभव भी तृणवत् न लगे? आहा! अन्तर-अवलोकनमें तो अमृतरस झरता है और बाह्य अवलोकनमें तो विष सा अनुभव होता है। २४४.**

(२९:१० मिनिटसे)। २४४. कल थोड़ा चला है इसमेंसे। जो बोल चल रहा था वह पूरा हुआ।

'**हे भगवान! आपने जो चैतन्यभंडार खोल दिया है--उसके सामने कौन ऐसा होगा कि जिसको चक्रवर्तीका वैभव भी तृणवत् न लगे? आहा! अन्तर-अवलोकनमें तो अमृतरस झरता है और बाह्य अवलोकनमें तो विष सा अनुभव होता है।**' अत्यंत भाववाही वचन निकले हैं गुरुदेवश्रीके। जो २३८वाँ बोल है वह अनेक जगह लागू होगा। कीमत करनेकी बात है। २३८वाँ बोल है न, वह हर जगह लागू

होता है। २३९में देखो तोविचिक्षणतामें भी कीमत करे आत्माकी और जड़की कीमत छोड़ दे, वह विचिक्षणता। धन कमानेका काल है वह मरनेका काल है। उसमें उसकी धनकी कीमत निकाल दी। कीमतका बोल है न।

... उसे अपना मूल्य हो कि यह आत्मा सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है। सर्वोत्कृष्ट शांत जिन है ऐसा ही इस आत्माका शांत स्वरूप है। सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है। परम शांत.. शांत.. शांत है। तीन ल ोकका नाथ स्वयं ही है। चक्रवर्ती तो छः खण्डका स्वामी है। वह भी मर्यादिक कालके लिये है, आयुष्य पर्यंत। परन्तु यहाँ तो सादि अनन्त काल। अनादिअनंत, स्वरूपसे तो अनादिअनंत तीन लोकका नाथ है। और अवस्था परमेश्वरकी होती है तब सादिअनन्त काल रहती है, उसकी कीमत कितनी? कि उसकी कीमत इस जगतके कोई पदार्थसे कम है ऐसी कीमत करता है, वहाँ वह स्वयंका ही खून करता है।

'**हे भगवान! आपने जो चैतन्यभंडार खोल दिया है...**' वैभवशाली चैतन्यके गुणोंका वैभव है वह भंडार आपने उपभोग करनेके लिये खोल दिया है। मिथ्यात्वका ताला खोल दिया। जब तक मिथ्यात्व रहता है तबतक वह स्वयंके गुणवैभवको भोग नहीं सकता। ऐसा एक बड़ा अवगुण है। ऐसा स्पष्ट मार्गदर्शन जैनदर्शनमें है कि यह एक दरवाजा खुल जाये, यह एक मिथ्यात्वका ताला खुल जाये तो अन्दरमें अनन्त गुणका भंडार खुल जाता है। एक-एक गुण कैसे?

बाहरमें लौकिक सद्गुणमें भी लोग प्रशंसा करके मार डालते हैं। ये मान चड़ जाता है, अर्थात् मार डालते हैं। देखो! कितना उदार है, नेकदिल है, उदारदिल है। राजा जैसा है, कोई दान देनेवाला हो तो उसे, राजा जैसा दिल है, फलाना है, ढीकना है ऐसा कहते हैं। कोई क्रोध न करे, अपना विरोध करने वालेके प्रति भी क्रोध न करे, क्षमा रखे, प्रतिकूलता देनेवालेके प्रति क्षमा रखे। देखो! कितनी शांति है। इतनी स्पष्ट प्रतिकूलता दी है फिर भी अल्प भी द्वेष नहीं करता।

द्रव्यलिंगी मुनि ऐसा होता है। चमड़ी उतारकर नमक डाले, जलन होती हो और फिर भी मुखकी रेखा अल्प भी नहीं बदलती ऐसी शांति रखे। ऐसा शुभराग करे। दयाका, दानका, क्षमाका। जैनदर्शनमें उसे गुण नहीं कहा है। लौकिकमें जिसे गुण कहते हैं उसे गुण नहीं कहते। शुभ परिणामको अवगुण कहा है, तो उसकी कैसी उत्कृष्ट दशाको उसने गुण कहा होगा? यह विचिक्षणतामें विचारणीय विषय है।

यदि कोई जीव विचिक्षण हो तो इतना विचार करे कि अरे..! लोग जिसे एकान्त गुण कहते हैं उसे जो जैनदर्शन अवगुण कहे तो वह गुण किसको कहता है? हमने दोष कभी किया ही नहीं। आता है? दसलक्षणी पर्वमें हमलोग मिच्छामी दुक्कडम करते हैं न? पर्युषण पूरे हो तब मिच्छामी दुक्कडम करनेका व्यवहार है। क्षमा मांगनेका व्यवहार है कि आपके प्रति अभी तक कुछ भी दोषित परिणाम हुए हों तो उसकी मैं क्षमा चाहता हूँ। कहते हैं कि, हमने दोषित परिणाम किये ही नहीं। दोष हमने कभी किया ही नहीं। क्षमा आदि दोष। ऐसा करके बात लिखी है। क्षमाका भाव, दूसरेकी क्षमा मांगनेका भाव ऐसा जो दोष। ऐसा। निर्दोष क्षमाके आगे उसे दोष गिननेमें आता है। वीतरागी जो क्षमा है ज्ञाता-दृष्टा परिणाम उसके आगे क्षमा मांगनेका शुभभाव वह दोष है। फिर, वह करना ऐसा तो नीचेके परिणामकी अपेक्षासे कहनेमें आता है। ऊपरके परिणाम-वीतरागी परिणामकी अपेक्षासे तो ऐसा दोष करनेका विधान नहीं है। ऐसा है।

मिच्छामी दुक्कडम करनेवालेको मालूम नहीं है कि यह क्या है। रूढ़िगत ऐसा हो गया है कि मिच्छामी दुक्कडम कह तब उसके अन्दर हृदय परिवर्तन नहीं हुआ हो और उसके बाद होनेका तो सवाल ही नहीं रहता। वह व्यवहार तो इसलिये है कि हृदय परिवर्तन करनेकी बात है। अभी तक किसी अभिप्राय वशात् आपके प्रति कोई दोषित परिणाम होते हो तो वह, अब आगेसे मैं मिटाना चाहता हूँ। परन्तु अभिप्राय द्वेषका रखे और ऊपर-

ऊपरसे मिच्छामी दुक्कडम करे तो तब और उसके बाद उसके परिणाममें कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ा। व्यवहारके तौरसे व्यवहार बहुत अच्छा और उचित व्यवहार है। किसकी अपेक्षासे? कि ऐसा व्यवहार जिस संप्रदाय और जिस समाजमें नहीं है उसकी अपेक्षासे। परन्तु उतनेमें सब ... आ नहीं जाता। जैनत्व उतनेमें पूरा नहीं हो जाता।

पहली बार तो बहुत अच्छा लगा था। जब यह विषय हाथ नहीं लगा था। तब हमारे साथ एक हमारे एक कलिग थे। जैन थे, देरावासी जैन थे। प्रथम पर्युषण पूरा होनेके बाद मिच्छामी दुक्कडम किया। मैंने कहा, बहुत अच्छा व्यवहार है इन लोगोंका। जैनियोंका व्यवहार अच्छा है ऐसा उस दिन लगा था। उन दिनोंमें तो ऐसा ही विचार आये न। हम कुलधर्मसे तो जैन थे नहीं। जैनियोंका व्यवहार अच्छा है। वर्षमें एक बार तो माफी माँग लेते हैं।

मुमुक्षु :— वैसे तो छः छः महिनेमें आता है। यानि छः महिने तक उसकी रेखा तक न रहे।

पूज्य भाईश्री :— हाँ, रेखा न रहे। लेकिन वह सब तो मालूम नहीं था। यह तो एक प्रसिद्ध है न। पर्युषण पूर्ण होनेके बाद अंतिम संवत्सरी प्रतिक्रमण करनेके बाद परस्पर क्षमा माँगते हैं। वे दुकान पर आये। मिच्छामी दुक्कडम किया तो थोड़ी चोंट लगी। इन लोगोंका व्यवहार बहुत अच्छा है। सरलता थी इसलिये पहलेसे ऐसा हुआ कि ऐसा यदि रुचा हो तो हृदय परिवर्तन होनेका अवकाश है। किसी भी जीवको हृदय परिवर्तन करना हो तो व्यवहार बहुत अच्छा है। बादमें रूढ़ि होनेके बाद वह परिस्थिति प्रायः नहीं रहता, उसे एक ओर रखते हैं। तो भी जिस हेतुसे उसकी रचना और व्यवस्था की गई है, उसमें तो बिल्कुल शुद्ध हेतु है। सुन्दर हेतु है और शुद्ध हेतु है उसमें तो कोई सवाल नहीं है। परन्तु उस व्यवहारकी मर्यादा व्यवहार पर्यंत है। परमार्थकी मर्यादामें तो उसका अभाव है। उससे आगे है। पारमार्थिक जो क्षमा है, वीतरागी जो क्षमा है उसमें तो दूसरेकी क्षमा मांगनेका दुषित परिणामका भी अभाव है, निषेध है। उससे आगे बढ़कर वीतराग परिणाम करनेका वहाँ उपदेश देनेमें आया है।

मुमुक्षु :— वास्तवमें तो निश्चयके लक्षसे ही व्यवहार है न?

पूज्य भाईश्री :— हाँ, निश्चयके लक्षसे ही व्यवहार है। निश्चयकी खबर नहीं है फिर तो व्यवहारकी भी खबर नहीं रही। व्यवहारसे व्यवहार नहीं रहा। वह परिस्थिति तो ऐसी ही होती है।

यहाँ तो जीवको विषय कहाँसे चलता है? कि गुणभंडार खोल दिया है। चैतन्यका जो भंडार खुला है वह गुणभंडार है। आत्मा स्वयं गुणभंडार है। जिसने वीतरागी दशा प्राप्त की वह आत्मा प्रगटपने गुणभंडार है। युँ तो सभी आत्माएँ अंतरमें गुणभंडार हैं। परन्तु जिसने वह भंडार खोल दिया, गुण प्रगट किये वह प्रगटपने गुणभंडार है। सब साधक, सम्यग्दृष्टि, मोक्षमार्गी, धर्मात्मा सब गुणभंडार है ऐसा कहनेमें आता है। उसे अनंत गुणका विकास हुआ। अनंत गुण प्रगट हुए और अनंत गुणका विकास हुआ।

मुमुक्षु :— वहाँ क्षमा माँगने नहीं जाता।

पूज्य भाईश्री :— वास्तवमें तो एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंतके समस्त जीवोंके प्रति मनसे, वचनसे, कायासे, करनेसे, करानेसे, अनुमोदनासे नव कोटिसे कुछ भी प्रतिकूलता होनेका प्रकार बना हो, उन सर्वकी आत्मभावसे क्षमा माँगनेका वह विषय है। आत्मभावसे। स्वयंके आत्महितार्थ है न। ऐसा है।

मुमुक्षु :— ... प्रतिक्रमण करनेके बाद माफी मांगते हैं,...

पूज्य भाईश्री :— विधितो मालूम नहीं है, भाई! लेकिन यह तो एक, धर्मात्माको जो स्वयंका वीतरागभाव प्रगट होता है, उसके साथ-साथ ऐसा व्यवहारका शुभभाव भी प्रगट होता है। और सर्व कालमें उनका यह परिणमन है। सर्व कालका उनका यह अभिप्राय है कि मनसे,

वचनसे और कायासे कभी कोई प्राणीको दुःख न हो। मनसे, वचनसे, कायासे करना, करवाना और अनुमोदनासे किसीको भी दुःख न हो। ...

मुमुक्षु :— क्षमा माँगनेका जब प्रश्न आये तब सामने कोई भी व्यक्ति हो... हृदयपूर्वक न हो ... लाभ किसको मिले?

पूज्य भाईश्री :— सबके परिणामका लाभ, अपने परिणामका लाभ या नुकसान स्वयंको है। किसीसे किसीको कुछ लाभ नहीं है। यह तो सिद्धांत है। उसमें तो कोई भूल हो ऐसा नहीं है।

कहते हैं कि भगवानने भंडार खोल दिया माने क्या? कि जो, मिथ्यात्वका ताला खुल जाये और सम्यक्त्व प्राप्त हो ऐसा रास्ता बताया, ऐसा मार्ग बताया, ऐसा उपाय बताया इसलिये उसने अपना ही भंडार खोल दिया। स्वयंके गुणभंडारको भोगनेके लिये उसको स्वयंका खुल्ला रास्ता और खुल्ला मार्ग हो गया, इसीलिये उसे गुणभंडार भगवानने खोल दिया ऐसा उपचार करनेमें आता है।

कहते हैं कि '**आपने जो चैतन्यभंडार खोल दिया है—उसके सामने कौन ऐसा होगा कि जिसको चक्रवर्तीका वैभव भी तृणवत् न लगे?**' यह मूल्यांकन करनेका विषय हुआ। अपने अनंत गुणोंके भंडारकी महत्ता, महत्ता और कीमत इतनी आती है कि चक्रवर्तीका वैभव भी उसे तुच्छ लगता है। चक्रवर्तीको पाँच इन्द्रियके विषयोंकी कमी नहीं है, पाँच इन्द्रियोंके विषयकी कोई क्षति नहीं है। आहारसे लेकर सब प्रकारके विषय मनुष्यपर्यायमें उत्कृष्टसे उत्कृष्ट पुण्यधारीको हो, वह चक्रवर्तीको है। वह सब तुच्छ लगता है इसलिये उसके प्रति स्वयंको विभाव नहीं होता, उन पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंके प्रति विभाव न हो ऐसी परिस्थिति, स्वयंके शुद्धात्माके गुणभंडारके आश्रयसे ही बन सकती है, अन्य कोई रीतिसे बन सकने योग्य नहीं है। ऐसा है।

जीवका स्वभाव ऐसा है कि जब ऊँची चीज मिले तो निम्न चीजकी कीमत चली जाती है। अब, उसने जगतके पदार्थोंकी जो कीमत की है वह, जगतके पदार्थोंसे ऊँची कोई चीज उसे देखने मिले तब उसकी कीमत जाये न। तब तक कैसे जाये? बात लक्षणिक पद्धतिसे की है कि हे प्रभु! हे भगवान! आपने जो हमारे आत्माका गुणभंडार दर्शाया है वह गुणभंडार ऐसा है कि चक्रवर्तीका वैभव भी हमें तुच्छ लगता है। चक्रवर्तीका वैभव, देवके देवलोकका वैभव, दैवीवैभव भी वहाँ तुच्छ लगता है।

मुमुक्षु :— वहाँ ऐसा बड़ा क्या है?

पूज्य भाईश्री :— अन्दरमें गुणकी शांति हो जाती है। बाह्य वैभवके आश्रयसे जीवको जो अशांति, दुःख एवं आकुलता होती है, विकारका दुःख होता है, वह अविकारी तत्त्वके आश्रयसे शांति एवं निर्विकार परिस्थिति दशामें उत्पन्न होती है, इसीलिये उसकी उत्कृष्टता है। और आत्मा ऐसा ही है वास्तवमें।

ये भरतादि चक्रवर्ती क्षणमात्रमें जिन्होंने छः खंडका वैभव छोड़ दिया। उसमें कोई कठिनाई नहीं लगी, उसमें कुछ दुःख नहीं हुआ, अन्दरकी शांति बढ़ी है। और उस विकल्परूप विकारका उसने त्याग किया है, अभाव किया है। वह कैसे हुआ? स्वाभाविकरूपसे कैसे हुआ? यह विषय विचारणीय है। किसीने जबरदस्ती दीक्षा नहीं दी की तू दीक्षा ले ले। अन्यथा तुझे छकायके जीवोंकी हिंसा होकर तेरा जन्म-मरण होगा, फलाना होगा, ऐसा होगा। कोई भयस्थान नहीं बताया। सहज ही अपने चैतन्य गुणभंडारको महत्ता देनेसे बाहरके समस्त विषयोंको सहजमात्रमें छोड़ा जा सकता है। यहाँ ऐसा कहते हैं कि हे भगवान! ऐसा कौन होगा कि ऐसा न बने? कि, ऐसा बने, बने और बने ही।

अब गुरुदेवश्री ऐसा कहते हैं कि.. यह एक परमागमसार नामका शास्त्र बनाया है। गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके अनेक परमागम पर जो प्रवचन हुए थे उनमें से वचन छाँटकर १००८का यह ग्रंथ बनाया है। तो कहते हैं, अब स्वयंकी बात लेते हैं कि '**अहा! अन्तर**

**अवलोकनमें तो आत्मरस झरता है...**' देखो! यहाँ अवलोकन और अनुभव एकार्थमें है। दीपचंदजी साधर्मी, जिन्होंने आत्मावलोकन नामका ग्रंथ बनाया है वह भी आत्म अनुभवके अर्थमें बनाया है। पूरा ग्रंथ पढे तो अवलोकन वहाँ अनुभवके अर्थमें लिया है। अवलोकन और अनुभव एकार्थ वाचक है।

यहाँ गुरुदेवश्री ऐसा कहते हैं कि '**अहा! अन्तर अवलोकनमें तो आत्मरस झरता है...**' हमारे अन्तर अवलोकनमें, हमारे अन्तर अनुभवमें अन्दर आत्मामेंसे शांत-शांत निर्विकारी चैतन्यरस झरता है। आनंद अमृतका, निर्विकारी आनंद अमृतका रस झरता है। यह एक वाक्य कैसा दिया है! '**अहा! अन्तर अवलोकनमें अमृतरस झरता है और बाह्य...**' अन्य पदार्थके अवलोकनमें अर्थात् अनुभवमें जानेपर विषका अनुभव होता है। जितने परिणाम अंतर अनुभवमें रहते हैं, जो परिणाम अंश आत्माके साथ लिपटकर, अभेद होकर रहते हैं वहाँ अमृतरस झरता है। हमें शुद्धोपयोग होता है तब भी अन्दर अमृतरस झरता है और विकल्प उठकर बाहरमें आना होता है तब उसमें अशांति है। वह राग आत्माके गुणोंका घात करनेवाले परिणाम हैं, इसीलिये तो उसे दुश्मन कहा है। उसे अरिको जीतनेवालेको, अरि-दुश्मन, दुश्मन यानि अरि। अरि संस्कृत शब्द है। अरि यानि दुश्मन। उसे जीतनेवाले, नाश करनेवाले अरिहंत कहलाये।

इस तरह बाह्य अवलोकनमें यानि बाहर जा रहे परिणाममें जो कुछ रागादिका अनुभव होता है वह विष समान है। आत्माका नाश करनेवाले होनेसे, वह दुःखदायक होनेसे, चैतन्यप्राणके घातक होनेसे, वह हमें विष जैसे लगते हैं।

मुमुक्षु :— अशुभराग तो अत्यंत विष जैसा लगता है।

पूज्य भाईश्री :— शुभराग भी विष ही है। समयसारमें सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारमें, उस प्रतिक्रमण आदिके शुभभावको विषकुंभ कहनेमें आया है। स्पष्ट विषय है। परन्तु वह आत्माके आनन्द अमृतकी अपेक्षासे बात है। वह अपेक्षा न रहे तो वह बात गड़बड़वाली हो जायेगी। यहाँ तक रखते हैं...

---

**(पूज्य बहिनश्रीकी तत्त्वचर्चा...)**

तो द्रव्य अकेला शून्य हो जाता। द्रव्य को ज्ञानगुण कहाँ रहा, दर्शन गुण कहाँ रहा, उसकी पर्याय का वेदन कहाँ रहा? सब भिन्न-भिन्न। किसके लिये पुरुषार्थ करना कि यह दुःख किसका? सुख की पर्याय का वेदन कहाँ? सब कहाँ? सब भिन्न-भिन्न हो गया।

द्रव्य की अभेद दृष्टि वैसे ही रखकर सब समझना है। एक द्रव्य पर दृष्टि रखकर, सबकुछ उसमें ही है और उसप्रकारसे समझना है। कोई ऐसा कहे कि द्रव्य के अनन्त गुण नहीं है या द्रव्य में अनन्त पर्याय नहीं हैं, ऐसी जिसे बुद्धि हो उसे ऐसा समझाये कि द्रव्य में अनन्त गुण हैं। द्रव्य में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है। सबके स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं, सब का कार्य भिन्न-भिन्न है, ऐसा समझना है। लेकिन द्रव्य को छोड़कर नहीं समझना है।

मुमुक्षु :- वस्तुरूपसे तीनों अभेद ही हैं, यह बात रखकर समझना है।

समाधान :- वह बात रखकर समझना है। शास्त्र में ऐसे आता है और गुरुदेव शास्त्र अनुसार ही कहते थे और गुरुदेव का हृदय भी वही था।

***

## पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्त्वचर्चा
## मंगल वाणी-सी.डी. १०-A

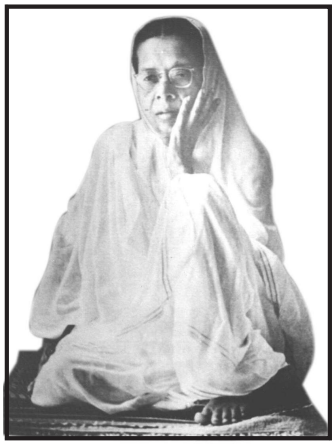

मुमुक्षु :- .. अभेद गुणमय अभेद द्रव्य का परिणमन होनेपर साथ में गुण का परिणमन होता है। केवल एक-एक गुण का भिन्न परिणमन नहीं होता।

समाधान :- किसके? गुरुदेव के?

मुमुक्षु :- .. परन्तु अभेद गुणमय अभेद द्रव्य का परिणमन होनेपर साथ में गुण का परिणमन होता है। अभी तक तो हमें ऐसा ख्याल था कि प्रत्येक गुण स्वतंत्र हैं और समय-समय के परिणाम भी स्वतंत्र हैं। द्रव्य को गुण-पर्याय की अपेक्षा नहीं है, गुण को द्रव्य-पर्याय की अपेक्षा नहीं है, वैसे ही पर्याय को द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं होती। तो यहाँ यह जो कहने में आया वह कृपा करके समझाईये।

समाधान :- गुण और पर्याय, एकदूसरे को अपेक्षा नहीं है उसका अर्थ ऐसा है कि उन्हें सर्वथा अपेक्षा नहीं है ऐसा उसका अर्थ नहीं है। अपेक्षा नहीं है अर्थात् उसे लक्षणभेदसे, कार्यभेदसे भेद है। उसे सर्वथा अपेक्षा नहीं है कि द्रव्य, गुण, पर्याय बिल्कुल भिन्न है। बिल्कुल अलग हो तो दो द्रव्य हो जाय। ऐसी सर्वथा अपेक्षा नहीं है ऐसा गुरुदेव का आशय नहीं था। द्रव्य को, गुण को एकदूसरे को किसीकी अपेक्षा नहीं है। अपेक्षा नहीं है, वह सर्व अपेक्षासे गुरुदेव सब प्रकारसे नहीं कहते थे।

द्रव्य में गुण रहे हैं, द्रव्य के आश्रयसे पर्याय होती है, एक द्रव्य का परिणमन होनेपर प्रत्येक गुण का परिणमन होता है। प्रत्येक भले ज्ञान ज्ञानरूप परिणमता है, दर्शन दर्शनरूप, चारित्र चारित्ररूप (परिणमता है)। प्रत्येक के लक्षण, प्रत्येक का कार्य भिन्न-भिन्न स्वभावरूप परिणमते हैं। लेकिन वह कोई बिल्कुल भिन्न नहीं है, टुकड़े हों ऐसे भिन्न नहीं है। गुरुदेव का कहने का आशय ऐसा नहीं था।

एक द्रव्य पर दृष्टि रखनेपर सम्यग्दर्शन, सम्यग्दृष्टि होनेसे सभी गुणों का परिणमन सम्यक्रूप परिणमता है। सर्व गुणांश ते सम्यग्दर्शन। द्रव्य का आश्रय लेनेपर प्रत्येक गुण स्वयं स्वभावरूप परिणमते हैं। जो विभाव की ओर परिणति हो रही थी जिस-जिस गुणों की, वह सब गुण स्वभावरूप परिणमते हैं। प्रत्येक के कार्य का अर्थ बिल्कुल टुकड़े हैं ऐसा गुरुदेव का आशय नहीं था। सर्वथा भिन्न है ऐसा कहने का आशय नहीं था। उसे अपेक्षा नहीं है अर्थात् पर्याय एक अंश है, गुण अंश है और आत्मा अंशी है, यह कहने का आशय था। अंश कहीं भिन्न रह जाता है, अंशी कहीं भिन्न रह जाता है, ऐसा आशय नहीं था। ऐसा सर्वथा भेद नहीं है। एक द्रव्य का परिणमन होनेपर, रुचि पलटी, दृष्टि स्वभाव पर गयी तो सभी गुण स्वयं, ज्ञान, दर्शन, चारित्र सब स्वयं स्वभावरूप स्वभाव में परिणमन करते हैं।

मुमुक्षु :- सब गुणोंसे भिन्न ऐसा स्वभाव, द्रव्य स्वभाव किसप्रकार है?

ससमाधान :- सभी गुणोंसे भिन्न द्रव्य स्वभाव.. द्रव्य स्वयं शाश्वत है। सबसे भिन्न यानि उसके टुकड़े नहीं है। वह तो उसके लक्षण भिन्न हैं। अनन्त गुणोंसे अभेद द्रव्य स्वयं है। अनन्त गुण-पर्याय का बना एक द्रव्य है, वह द्रव्य कोई जुदा टुकड़ा नहीं है। द्रव्य एक अखण्ड है और गुणों का लक्षणभेदसे भेद है। ऐसे भिन्न हैं। बना हुआ यानि किसीने बनाया नहीं है। स्वतःसिद्ध द्रव्य स्वयं ज्ञायक ज्ञानरूप, दर्शनरूप, चारित्ररूप स्वयं एक द्रव्य ही है। उसमें अस्तित्व,

वस्तुत्व आदि वह सब एक द्रव्य ही है। गुण कहीं अलग लटकते हैं और द्रव्य कहीं अलग (रहता) है, ऐसा आशय नहीं है।

मुमुक्षु :- माताजी! पर्याय का स्वरूप जैसा है वैसा स्वीकार करे, द्रव्य स्वभाव जैसा है वैसा अनंत गुणोंसे अभेद एक सामर्थ्यरूप स्वभाव है ऐसा जाना। फिर भी दोनों का आश्रय द्रव्य है, यदि यह बात छूट जाय तो उसे वास्तविकरूप में पदार्थ का ज्ञान नहीं है, यह बात सत्य है?

समाधान :- पदार्थ का ज्ञान बराबर नहीं है, द्रव्य अलग रह जाय तो। वह सब द्रव्य का ही स्वरूप है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सब द्रव्य का ही स्वरूप है।

मुमुक्षु :- स्वरूप है, जो-जो परिणमन होता है वह भी जैसे गुण हैं वैसा ही होता है, इसलिये गुण का आश्रय अथवा द्रव्य का आश्रय पर्याय को है वह भी उसे बराबर स्वतंत्रता यानि मर्यादित स्वतंत्रता जैसी है वैसी, स्वरूप की भी जैसी स्वतंत्रता है वैसा रखकर भी द्रव्य का आश्रय पर्याय को है एवं गुण का आश्रय है, यह तो उसके लक्ष्य में बराबर रहना चाहिये।

समाधान :- बराबर रहना चाहिये, नहीं तो तत्त्व की भूल होती है। उसके लक्ष्य में बराबर रहना चाहिये। पर्याय को द्रव्य का आश्रय है। गुणों को द्रव्य का आश्रय है। यह बराबर उसके लक्ष्य में रहना चाहिये। उसके लक्षणभेद को माने, कार्यभेद (है), लेकिन यह सब अखण्ड है यह बराबर लक्ष्य में रहना चाहिये। यदि टुकड़े माने तो तत्त्व की बड़ी भूल होती है।

मुमुक्षु :- टुकड़े नहीं माने और परिणमन जो होता है, वह जैसे गुण हैं वैसा होता है इसलिये उसे उसका आश्रय (है)। आश्रय का अर्थ यह कि जैसे गुण हैं वैसा ही उसमेंसे परिणमन होता है, ऐसा आश्रय स्वीकार करे तो ही उस अनुसार वास्तव में स्वीकार हो।

समाधान :- प्रत्येक में आश्रय तो स्वीकारना होता ही है। एक आश्रय नहीं स्वीकारे तो वह तत्त्व को समझा ही नहीं। तो उसे द्रव्य का आश्रय हुआ ही नहीं। उसे द्रव्य का आश्रय ही नहीं है। स्वीकार नहीं करे तो। द्रव्य का आश्रय जिसने ग्रहण किया उसका परिणमन फिर द्रव्य के आश्रयसे ही होता है।

मुमुक्षु :- नहीं तो ऐसा होगा कि यदि पर्याय को गुण और द्रव्य का आश्रय नहीं हो तो चाहे जैसी पर्याय हो, उसमें क्या बाधा आती है?

समाधान :- उसमें कोई बाधा नहीं आती। चाहे जैसी पर्याय होती रहे। तो फिर तू स्वभावपर्याय प्रगट कर, मोक्षपर्याय प्रगट कर, सम्यग्दर्शन प्रगट कर यह सब कहना ही नहीं रहता। पर्याय स्वतंत्र जैसे हो वैसी होती ही रहती है। तो फिर चैतन्यद्रव्य को क्या करना बाकी रहा? कुछ नहीं रहेगा, सब स्वतंत्र होता है।

मुमुक्षु :- इसलिये बड़ा दोष आ जाता है।

समाधान :- बड़ा दोष आता है।

मुमुक्षु :- आशंका तो इसलिये उत्पन्न होती है कि पर्याय का परिणमन जो विपरीत हो रहा है, जैसा गुण है वैसा नहीं होता इसलिये आशंका उत्पन्न होती है कि यह विपरीत क्यों होती है? स्वतंत्र है? पर्याय की स्वतंत्रता है?

समाधान :- पर्याय की स्वतंत्रता कोई अपेक्षासे है, कोई अपेक्षासे नहीं है। भले विपरीत परिणमन होता हो तो भी उसे द्रव्य का आश्रय है, द्रव्य के आश्रयसे होती है। विपरीत परिणमनरूप स्वयं परिणमता है। विपरीत दृष्टिरूप स्वयं परिणमता है, कोई दूसरा नहीं परिणमाता। द्रव्य की मूल शुद्धता चली नहीं जाती। लेकिन पर्याय में जो विपरीत परिणमन

होता है, वह परिणमनेवाला स्वयं है, कोई दूसरा नहीं है। स्फटिक में मूल स्वभावसे

स्फटिक ऐसा है, लेकिन जो परिणमन लाल-पीला हो रहा है वह सब स्फटिक परिणमता है। उसे कोई परिणमन करवाता नहीं। वह कोई निराश्रयरूपसे नहीं परिणमता। विपरीत परिणमन हो तो भी वह स्वयं परिणमता है, दूसरा कोई नहीं परिणमता। उसे दूसरा कोई करवाता नहीं, स्वयं ही परिणमता है।

मुमुक्षु :- ऐसी विपरीत विचित्र परिणमन की योग्यता द्रव्य में है?

समाधान :- ऐसी योग्यता द्रव्य में है। हाँ। स्वयं विपरीत परिणमन हो ऐसी योग्यता द्रव्य में है। योग्यता नहीं हो तो परिणमन कैसे हो? स्फटिक में ऐसी योग्यता है कि स्फटिक लाल-पीलेरूप परिणमे ऐसी योग्यता है। उसे निमित्त जबरदस्ती लाल-पीला नहीं करता। (यदि ऐसा हो तो) घन वस्तु लोहे आदि में भी वैसा होना चाहिये। लेकिन ऐसा होता नहीं। स्फटिक में ऐसी योग्यता है इसलिये होता है। ऐसे चैतन्य में ऐसी योग्यता है इसलिये परिणमन होता है।

मुमुक्षु :- ऐसी शंका और ऐसा संशय जब विपरीत परिणमन है तब ही होता है। जब परिणमन स्वरूप सन्मुख हो उस वक्त .. नहीं।

समाधान :- विपरीत हो तब ही शंका उत्पन्न हो न। स्वभाव की ओर जाय तो निःशंक हो जाये। उसे सब जानने में आ गया, निःशंक हो जाता है। फिर प्रश्न कहाँ रहता है। विपरीत परिणमन किस कारणसे होता है? ऐसी शंका स्वयं जबतक निःशंक नहीं हुआ है तबतक सब शंका उत्पन्न होती है। जिसने स्वरूप को समझ लिया, खुद निःशंक हो गया, द्रव्य को समझा, द्रव्य का आश्रय लिया, सम्यग्दर्शन हुआ, स्वानुभूति हुई उसने प्रयोजनभूत स्वरूप पूरा जान लिया इसलिये उसे वैसी शंकाएँ, मूल प्रयोजनभूत शंकाएँ उत्पन्न नहीं होती। दूसरा जानने के कोई विचार आये, लेकिन फिर प्रयोजनभूत शंकाएँ उत्पन्न नहीं होती।

मुमुक्षु :- फिर तो निःशंक होकर स्वरूप का आश्रय लेना रहता है।

समाधान :- स्वरूप का आश्रय ही लेना रहा। निःशंक हो जा, स्वरूप का आश्रय ग्रहण कर। उसमें जो है वह सब स्वरूप रूप में प्रगट होगा। स्वरूप का परिणमन प्रगट होगा। जो है वह सब अंतरमें-से प्रगट होगा। निःशंक हो जा। विचारकरके वस्तु स्वरूप ऐसा ही है, इसप्रकार तू विचारसे, तू स्वयं खुदसे निःशंक हो जा। खास युक्तिसे, विचारोंसे किसी भी प्रकारसे निःशंक हो जा,वस्तु स्वरूप को जान ले, फिर निःशंक हो जा। गुरु कहते हैं, शास्त्र में भी (आता है), तू स्वयं भी अपने विचारोंसे सम्यक् तर्कसे निर्णय करके निःशंक हो जा, तो तुझे द्रव्य का आश्रय ग्रहण होगा।

मुमुक्षु :- आपने कल कहा था कि विश्वास और दृढ़ता, विश्वास लाकर दृढ़ता बराबर कर।

समाधान :- दृढ़ता बराबर कर। मार्ग यही है, द्रव्य का ही आश्रय लेना है।

मुमुक्षु :- ऐसी निःशंकता नहीं होती उसका कारण बाधक तो स्वयं ही है?

समाधान :- स्वयं ही है। निःशंकता नहीं आती उसका कारण स्वयं (है)। कर्म तो मात्र निमित्त कहलाता है। खुद पलटे तो पलट सकता है। उसे कोई रोक नहीं सकता। कर्म मुझे रोकता है, जबतक उसकी दृष्टि कर्म पर जाती है, निमित्त पर जाती है, तबतक उसे निःशंक होने का कोई मार्ग नहीं रहता। उसका पुरुषार्थ मन्द होता है। और वस्तु स्वरूप यही है कि निमित्त है वह निमित्त है, उपादान खुद का कारण है। स्वयं के कारण ही शंका करता रहता है। उसे निःशंकता नहीं आती इसका कारण खुद के पुरुषार्थ की मन्दता है। इतना क्षयोपशम ज्ञान, स्वयं उतना प्रयोजनभूत जान सके उतना तो खुद में ज्ञान है, ऐसी योग्यता है। तो उसे कर्म निमित्त रोक नहीं सकता। स्वयं का कारण है। जो एकेन्द्रियादि है उसमें कोई विचारशक्ति नहीं है, वह बात अलग है, यहाँ तो स्वयं विचार कर सकता है, निर्णय कर सकता है, तो कर्म का

निमित्त तो मात्र निमित्त है, उपादान कारण स्वयं का है, खुद अटकता है।

मुमुक्षु :- अपना सच्चा प्रयोजन क्या है यह अबतक उसके लक्ष्य में नहीं आया है।

समाधान :- उसके लक्ष्य में नहीं आया, स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता है। खुद स्वतन्त्र है। अपनी भूलसे स्वयं भटका है और स्वयं सुधरे तो सुधर सकता है। अनन्त कालसे अपनी भूल के कारण स्वयं भटका है और स्वयं भूल सुधारकर आगे बढ़े तो स्वयं स्वतन्त्र है।

मुमुक्षु :- .. का द्वितीय प्रश्न २१३ वचनामृतमें-से है कि षट् कारकरूपसे आत्मा स्वयं ही परिणमता है। कारक भिन्न-भिन्न नहीं है किन्तु अभेद है। अत्मा स्वयं अकेला ही षट्कारकरूप होता है और ऐसी अनन्त शक्तियोंरूप आत्मा स्वयं ही परिणमता है, ऐसा २१३ वचनामृत में गुरुदेव फरमाते हैं। अब इसमें प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि एक ओर-से ऐसा कहा जाता है कि एक-एक समय के परिणाम समय-समय पर स्वतन्त्र होते हैं, षट्कारकरूप पर्याय स्वयं परिणमती है। पर्याय को द्रव्य की अपेक्षा नहीं है, पूर्वपर्याय के व्यय की अपेक्षा नहीं है। तो इन सबका मेल किसप्रकार है, यह कृपा करके समझाइये। वैसे तो पहलेवाले वचनामृत में बात आ गयी है परन्तु पुनः (समझाइये)।

समाधान :- वह सब कुछ सर्वथा मान लेनेसे भूल होती है। गुरुदेव सर्वथा नहीं कहते थे। छः कारकरूप परिणमनेवाला द्रव्य है। षट्कारक अभेदरूपसे आत्मा में है। फिर पर्याय आदि के भेद करनेसे पर्याय के स्वतन्त्र कहे जाते हैं, परन्तु पर्याय के स्वतन्त्र यानि द्रव्य भिन्न और पर्याय भिन्न, ऐसा आशय गुरुदेव का नहीं था। बिल्कुल स्वतन्त्र माननेसे तो द्रव्य भिन्न रहा जाता है, ऐसा उसका अर्थ होता है। गुरुदेव का ऐसा कहने का आशय नहीं था। द्रव्य का आश्रय छोड़कर द्रव्य को एक ओर रखकर पर्याय भिन्न, ऐसा ज्ञान कर ऐसा गुरुदेव का कहने का आशय नहीं था। गुरुदेव पर्याय का स्वरूप कहते थे कि पर्याय भी स्वतन्त्र परिणमती है। गुण भी उसके लक्षणसे, कार्यसे (स्वतन्त्र रहते हैं)। उसका ज्ञान ज्ञानरूप है, दर्शन दर्शनरूप है, चारित्र चारित्ररूप कार्य करता है, इसप्रकार गुण और पर्याय का स्वरूप दर्शाते थे। उसमें द्रव्य को भिन्न रखने का नहीं कहते थे। द्रव्य के आश्रयसे ही सब होता है। द्रव्य के षट्कारक में सबकुछ समाविष्ट हो जाता है। षट्कारक भी भेद है। एक द्रव्य पर दृष्टि करनेसे वह कुछ नहीं होता। फिर भी षट्कारक अभेदरूपसे द्रव्य में आ जाते हैं, लेकिन उसके लक्षणभेद और कार्यभेद का स्वरूप समझाते थे तब उसका भिन्न-भिन्न कहते थे। उसका स्वरूप समझाते थे। तू द्रव्य को अलग कर दे, ऐसा कहने का आशय नहीं था। जो बात आये उसे गुरुदेव ज़ोरसे स्थापित करते थे। इसलिये उनका कहने का आशय, तू द्रव्य का आश्रय छोड़कर यह सब है, ऐसा कहने का आशय नहीं था। द्रव्य को छोड़ने की बात नहीं थी।

गुरुदेव भक्ति की बात करते थे तब वैसी करते थे, गुरुदेव वैराग्य की बात करते थे तब वैसी करते थे, गुरुदेव तत्त्व की बात करे तब वैसी करते थे, द्रव्यदृष्टि की बात करे तो उतने ही ज़ोरसे करते थे। पर्याय की करे तो भी उतने ही ज़ोरसे करते थे। अब उसका सम्बन्ध करना स्वयं के हाथ में है, सम्बन्ध कैसे करना वह।

मुमुक्षु :- मेल खुद को करना है।

समाधान :- मेल खुद को करना है। जो शास्त्र उनके हाथ में रहता, उस शास्त्र अनुसार उसके अर्थ करते थे। उसमें जैसे उन्हें रस आये, जिसप्रकार स्थापित करना हो उसप्रकारसे स्थापित करते थे। उन सबका मेल करना, जो जिज्ञासु आत्मार्थी है वह उसका मेल कर सकता है। विचारसे द्रव्य भिन्न, गुण भिन्न, पर्याय भिन्न उसप्रकारसे भिन्न हो

**(प्रवचन का शेष अंश पृष्ठ सं. १४ पर)**

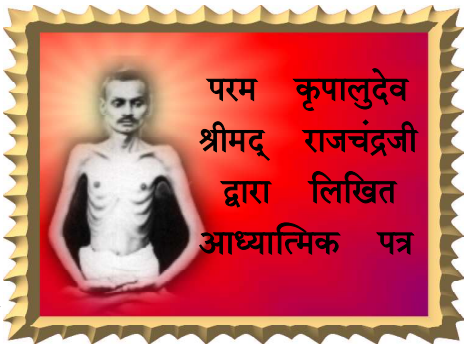


२५९

**बंबई, श्रावण सुदी ११,बुध,१९४७**

परम पूज्यजी,

आपका एक पत्र कल केशवलालने दिया। जिसमें यह बात लिखी है कि निरंतर समागम रहनेमें ईश्वरेच्छा क्यों नहीं होगी?

सर्वशक्तिमान हरिकी इच्छा सदैव सुखरुप ही होती है, और जिसे भक्तिके कुछ भी अंश प्राप्त हुए हैं ऐसे पुरुषको तो जरुर यही निश्चय करना चाहिये कि ''हरिकी इच्छा सदैव सुखरुप ही होती है।''

हमारा वियोग रहनेमें भी हरिकी ऐसी ही इच्छा है, और वह इच्छा क्या होगी? यह हमें किसी तरहसे भासित होता है, जिसे समागममें कहेंगे।

श्रावण वदीमें आपको समय मिल सके तो पाँच-पंद्रह दिनके लिये समागमकी व्यवस्था करनेकी इच्छा करुँगा।

'ज्ञानधारा' सम्बन्धी मूलमार्ग हम आपसे इस बारके समागममें थोड़ा भी कहेंगे; और वह मार्ग पूरी तरह इसी जन्ममें आपसे कहेंगे यों हमें हरिकी प्रेरणा हो ऐसा लगता है।

आपने हमारे लिये जन्म धारण किया होगा, ऐसा लगता है। आप हमारे अथाह उपकारी है। आपने हमें अपनी इच्छाका सुख दिया है, इसके लिये हम नमस्कारके सिवाय दूसरा क्या बदला दें?

परंतु हमें लगता है कि हरि हमारे हाथसे आपको पराभक्ति दिलायेंगे; हरिके स्वरूपका ज्ञान करायेंगे, और इसे ही हम अपना बड़ा भाग्योदय मानेंगे।

हमारा चित्त तो बहुत हरिमय रहता है, परंतु संग सब कलयुगके रहे हैं। मायाके प्रसंगमें रात दिन रहना होता है, इसलिये पूर्ण हरिमय चित्त रह सकना दुर्लभ होता है, और तब तक हमारे चित्तका उद्वेग नहीं मिटेगा।

हम ऐसा समझते हैं कि खंभातवासी योग्यतावाले जीव है; परंतु हरिकी इच्छा अभी थोड़ा विलंब करनेकी दिखायी देती है। आपने दोहे इत्यादि लिख भेजे यह अच्छा किया। हम तो अभी किसीकी सम्भाल नहीं ले सकते। अशक्ति बहुत आ गयी है, क्योंकि चित्त अभी बाह्य विषयमें नहीं जाता।

**लि. ईश्वरार्पण।**

२६०

**बंबई, श्रावण सुदी,९ गुरु,१९४७**

आपने नथुरामजीकी पुस्तकोंके विषयमें तथा उनके बारेमें लिखा, वह मालुम हुआ। अभी कुछ ऐसा जाननेमें चित्त नहीं है। उनकी एक दो पुस्तकें छपी हैं, उन्हें मैंने पढ़ा है।

चमत्कार बताकर योगको सिद्ध करना यह योगीका लक्षण नहीं है। सर्वोत्तम योगी तो वह है कि जो सर्व प्रकारकी स्पृहासे रहित होकर सत्यमें केवल अनन्य निष्ठासे सर्वथा 'सत्'का ही आचरण करता है, और जिसे जगत विस्मृत हो गया है। हम यही चाहते हैं।